समग्र स्वास्थ्य संवर्धन कैसे ?

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

पिन-२८१००३ (उ० प्र०)

सकता है, उसकी उपेक्षा करना किसी भी बुद्धिमान के लिए भार न प्रतीत होगा ।

संयमित जीवन में हर दृष्टि से लाभ ही लाभ है । हानि केवल इतनी है कि उच्छृंखलता, अव्यवस्था, चटोरेपन की ललक जैसी अवांछनीयताओं पर अंकुश लगाने का साहस करना पड़ता है । रोगों से लड़ने में जितनी शक्ति खर्च होती है, उसको यदि संयम बरतने, जीवनचर्या में सुव्यवस्था का समावेश करने में लगाया जा सके, तो इतने भर से समग्र स्वास्थ्य रक्षा की गारंटी मिल सकती है । उस आधार पर उस शास्त्र वचन के अनुरूप लाभ उठाया जा सकता है, जिसमें आरोग्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल साधन माना गया है ।

स्वास्थ्य रक्षा की छोटी,

किंतु महत्त्वपूर्ण बातें

स्वास्थ्य ईश्वर की महती अनुकंपा है । वह जन्मजात रूप से हर किसी को सहज उपलब्ध है । उसे सुरक्षित रखने के लिए किसी बड़ी समझदारी या रहस्य भरी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है । यह प्रयोजन तो प्रकृति संकेतों का अनुसरण करने भर से पूरा होता रहता है । सृष्टि के सभी प्राणी इस मर्यादा को अन्तः प्रेरणा के आधार पर अनुभव करते हैं और उसे निर्बाध रूप से अपनाए रहते हैं । उनके लिए किन नियमावलियों का परिपालन आवश्यक है, इसे सीखने के लिए उन्हें किसी विद्यालय का भारी-भरकम कोर्स नहीं पढ़ना पड़ता है, न किसी हकीम-डॉक्टर की सलाह लेने जाना पड़ता है, और न स्वास्थ्य रक्षा के नाम पर किन्हीं टॉनिकों-बहुमूल्य पौष्टिक पदार्थों को खोजने की आवश्यकता पड़ती है । इतना कार्य तो संचित स्वभाव संस्कारों के आधार पर चलने, जीवन सत्ता के साथ गुँथी हुई प्रकृति प्रेरणाओं का अनुसरण करने भर से चल जाता है । इस मर्यादा चक्र को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करके सृष्टि के सभी प्राणी अपने आरोग्य को अक्षुण्ण बनाए रहते हैं । रुग्णता से उनमें से किसी का पाला नहीं पड़ता है । समय आने पर वे मरते तो अवश्य हैं, दुर्घटनाग्रस्त भी होते हैं, पर उस तरह रोगों की पीड़ा से व्यथित नहीं होते, जैसे कि मनुष्यों में से किसी कारण अधिकांशों को रोते-कलपते देखा जाता है । यह और कुछ नहीं बुद्धिमान कहे जाने वाले मनुष्यों की परले सिरे की मूर्खता भर है, जो आदत में शुमार हो जाने के कारण अखरती-खटकती भले ही न हो, पर वह अपना काम तो करती है । दुष्टता की तरह भ्रम-ग्रस्तता भी अपनी कड़ाई प्रतिक्रिया उपस्थित किए बिना नहीं रहती है । कहते हैं पापीजनों को परलोक

में यमदूत नरक में घसीटकर ले जाते हैं और वहाँ प्राणी को तरह-तरह के त्रास देते हैं । यह कथन सत्य है या कल्पित-यह बात विवादास्पद हो सकती है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि प्रकृति मर्यादाओं के साथ जुड़ी संयमशीलता और सुव्यवस्था का व्यतिरेक करने वालों को नकद धर्म की तरह अपने कुकृत्यों का दंड सहन करना पड़ता है । रोग इसी का सहज स्वाभाविक विधि-विधान है । यदि कोई चाहे, तो नियम-संयम की रीति-नीति अपनाकर निरोग, समर्थ, दीर्घजीवन का वरदान प्राप्त कर सकता है। इसके लिए किसी दूसरे से अनुग्रह माँगने की आवश्यकता नहीं । यह सब तो पूरी तरह अपने हाथ की बात है । निरोगता स्वाभाविक है और रुग्णता सर्वथा अस्वाभाविक । इस तथ्य को लोग तब समझ पाते हैं, जब समय गुजर चुका होता है और चिड़ियों ने खेत चुगकर उसे खोखला कर दिया होता है ।

आहार संयम को स्वास्थ्य रक्षा का प्रथम अनुशासन कह सकते हैं । मिर्च, मसाले, मिठाई, खटाई, भूनने-तलने से उत्पन्न होने वाला सोंधापन, चित्र-विचित्र पकवानों, मिष्ठानों, अचार, मुरब्बों के आधार पर जो चटोरापन जीभ को सिखाया जाता है, आगे चलकर पेट को और उसके सहारे चलने वाले अंग-अवयवों को अपनी स्वाभाविक शक्ति सामर्थ्य गँवा बैठने के लिए बाध्य करता है । अत्याचार से पीड़ित होकर वे अपनी स्वाभाविक क्षमता गँवा बैठते हैं और विषाक्तता से ग्रसित होकर बीमारियों के चक्र में फँस जाते हैं ।

इन दिनों आहार चुनने से लेकर, पकाने और खाने तक का सारा तंत्र अवांछनीयता से घिर गया है । यदि हरी स्थिति में शाक, ऋतुफल, अंकुरित अन्न आदि भाप से पका कर लिए जाते रहें, तो इतने भर से शरीर की समस्त आवश्यकताएँ सहज ही पूरी होती रह सकती हैं । आहार को शृंगार से सजाकर उसे वेश्या स्तर का भड़कीला बनाने में कुछ आकर्षक भले ही लगता हो, पर उनके संपर्क में आने, घनिष्ठता जोड़ने में मात्र अहित ही अहित है । ठीक

इसी प्रकार स्वादिष्टता के नाम पर पेट पर लादा गया अनावश्यक भार अन्ततः कष्टकारक ही सिद्ध होता है । खाद्य पदार्थों का जो स्वाभाविक स्वाद है, उसी में रस लिया जाए, तो वह भी कम संतोषप्रद नहीं है । सृष्टि के समस्त प्राणी अपना आहार बिना मिलावट किए, तले-भुने, अपने प्राकृतिक स्वरूप में ही खाते पचाते हैं, फिर मनुष्य ही अपनी कारिस्तानी जोड़कर जायके के नाम पर अभक्ष्य खाए और क्यों विषाक्तताजन्य हानि उठाए । भाप से उबालना भर पर्याप्त होना चाहिए । जायके के नाम पर नीबू, नारंगी, टमाटर, अदरक, सौंफ, धनियाँ, जीरा आदि कुछ मिलाया जा सकता है । काम न चले तो थोड़ा नमक और उसमें डाला जा सकता है । सफेद चीनी के स्थान पर शहद या गुड़ का प्रयोग हो सकता है । अन्न कम और शाक अधिक का अनुपात रखना अच्छा है । इस संदर्भ में रसोई बनाने की प्रक्रिया में असाधारण परिवर्तन करने की आवश्यकता है । खाने में इन दिनों अन्न की अधिकता और शाक की न्यूनता रहती है । यह आदत उलट देने की आवश्यकता है । शाक भाजियों की अधिकता रहनी चाहिए । वे अपेक्षाकृत लाभदायक भी होती हैं, सस्ती भी पड़ती हैं और एक वर्ष में कई उत्पादन देने, अधिक फलने के कारण उनका परिमाण भी अधिक रहता है । अन्नों में ज्वार, बाजरा, मक्का जैसे धान्य कम समय में पकाते हैं, वर्ष में कई फसल देते हैं और भावों में सस्ते पड़ते हैं । चावल सबसे अधिक सिंचाई माँगता है । पानी की अगले दिनों कमी पड़ेगी । फिर उन धान्यों से काम नहीं चल सकता, जो पूरे वर्ष में एक ही फसल देते हैं । गेहूँ इसी प्रकार का है । खाद्य की बढ़ती आवश्यकता, मँहगाई, सुपाच्य, पकाने में सरल होने का दृष्टिकोण रखकर आहार का निर्धारण होना चाहिए । बदली हुई परिस्थितियों को देखते हुए हमारे खाने संबंधी आदतें भी बदली जानी चाहिए । पकाने में अधिक ईंधन की विशेषतया लकड़ी-गोबर की आवश्यकता न पड़े, ऐसी नई रीति-नीति सोचनी चाहिए । प्रेशर कुकर इस दृष्टि से हर रसोईघर को सबसे बड़ी

और महत्वपूर्ण आवश्यकता है । चूल्हे के धुएँ से पकाने वालों की आँखें खराब न हों, फेफड़ों में कालिख न जमे, इस दृष्टि से जहाँ उपलब्ध है, वहाँ गैस का, गोबर गैस का निर्धूम चूल्हों का प्रयोग करना चाहिए । भाप पर उबालकर जो बन सके, उसी भोजन को अभिरुचि में सम्मिलित करना चाहिए । अधिक ठंडे, अधिक गरम पदार्थों से बचा जाए । एक समय भोजन पकाकर उसे दोनों समय प्रयुक्त करने की आदत डाली जाए । इससे महिला समुदाय का समय बचेगा और वे उसे शिक्षा का, स्वास्थ्य का, स्वावलंबन का लाभ उठाने में लगा सकेंगी । गरम भोजन ही खाना चाहिए यह बिल्कुल भी आवश्यक नहीं । दोपहर का भोजन रात को काम दे सके, इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है । चिकनाई, मसाले, चीनी आदि की भरमार करके भोजन को दुष्पाच्य नहीं बनाया जाना चाहिए । भूख से कम खाया जाए । अधिक चबाया जाए । दो बार के खाने को पर्याप्त माना जाए । तीसरे प्रहर या प्रातः कुछ आवश्यकता प्रतीत हो, तो दूध, छाछ, शाकों का रस जैसी पतली चीजों से ही काम चलाया जाए । अधिक मात्रा में अधिक बार भोजन करना हर दृष्टि से हर किसी के लिए हानिकारक है ।

पानी भी आहार की तरह ही आवश्यक, पोषक एवं आंतरिक सफाई की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है । उसकी शुद्धता का पूरा ध्यान रखा जाए । छानकर या कोई खतरा हो तो उबालकर पिया जाए । भोजन के एक घंटे बाद तक पानी न पिएँ । शेष पूरे दिन में आठ-दस गिलास पानी तो पी ही लेना चाहिए ।

जिन मकानों में हवा का आवागमन नहीं है, सीलन, घुटन है, उन्हें बदल ही देना चाहिए । खपरैल की झोपड़ियाँ इस दृष्टि से सबसे उपयुक्त हैं । उनमें हवा आर-पार जाने के लिए दरवाजे, जंगले, खिड़कियाँ बड़ी संख्या में होने चाहिए । जमीन का फर्श पक्का रहे, तो ही ठीक है । चोर आदि से डरकर बंद घरों में रहने से हानि अधिक और लाभ कम है । निवास और वस्त्र जहाँ तक हों

हवा के आवागमन के लिए खुले ही रखे जाने चाहिए । कपड़े भी इतने भारी व कसे हुए न हों, सर्दी-गर्मी सहने की स्वाभाविक आवश्यकता में ही अड़चन उत्पन्न कर दें ।

स्वास्थ्य के लिए सफाई की अत्यधिक आवश्यकता है । रसोई घर और शौचालय आमतौर से गंदगी के भंडार बने रहते हैं । इन दोनों की सफाई पर निरंतर ध्यान रखा जाए । बर्तन, उपकरण, पुस्तकें, वस्तुएँ सीमित मात्रा में इतनी व्यवस्थित रीति से रखनी चाहिए कि उनके पीछे गंदगी न इकट्ठी होने पाए । कीड़े-मकोड़े अवसर पाते ही बढ़ने लगते हैं, और गंदगी बढ़ाने के साथ-साथ स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचाते हैं । जुएँ, चीलर, खटमल, पिस्सू, तिलचट्टे, मकड़ी, चूहे, छछूँदर आदि घर के किसी कोने में पलने या बढ़ने न पाएँ, इसका पूरा ध्यान रखा जाए । कपड़ों को बार-बार धूप लगाते रहने की सतर्कता बरतनी चाहिए ।

शारीरिक श्रम स्वस्थ रहने के लिए नितांत आवश्यक है । हल्के काम करने भर से काम चलाते रहने में आराम तो मिलता है, पर शरीर के कल पुर्जे जंग लगे औजारों की तरह निकम्मे हो जाते हैं । जिन्हें किसान, मजदूर की तरह दिन भर कड़ा शारीरिक परिश्रम करने के अवसर नहीं हैं, उन्हें व्यायाम को अनिवार्य रूप से दिनचर्या का अंग बनाना चाहिए । किसके लिए क्या और कितना व्यायाम उपयुक्त रहेगा, इसका निर्धारण किसी जानकार के परामर्श से निश्चित कर लेना चाहिए । अंग संचालन के व्यायाम तो बूढ़े, बच्चे, दुर्बल भी कर सकते हैं । उन्हें रुग्णता की स्थिति में भी किसी न किसी रूप में अपनाए ही रहना चाहिए ।

कामुकता शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को नष्ट करने में विघातक ही सिद्ध होती है । यथा संभव अधिक से अधिक समय ब्रह्मचर्य से ही रहना चाहिए । बाल विवाह मात्र हानि ही हानि का संकट खड़ा करता है । अधिक संख्या में जल्दी-जल्दी बच्चा पैदा करने से जननी के स्वास्थ्य पर भयंकर दुष्प्रभाव पड़ता है । इन

परिस्थितियों में वे खोखली हो जाती हैं, जीवनी शक्ति गँवा बैठती हैं और अनेक रोगों की शिकार बनती हैं । बढ़ी हुई संतानों से खर्च बढ़ता है, परिवार के वर्तमान सदस्यों की सुविधा में कटौती होती है, और देश पर बढ़ती जनसंख्या के कारण असंख्य समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । दरिद्रता के वातावरण में पले घिचपिच में रहने वाले, उपेक्षित बालकों का भविष्य तो निश्चित रूप से अंधकारमय बनता है । इन सब बातों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया जाना चाहिए और महिलाओं को जीवनी शक्ति उपयोगी कामों में लग सके, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अतिवादी यौनाचार और अत्याचार का शिकार नहीं बनाना चाहिए ।

बाजार में अधिकाधिक खाद्य पदार्थों में हानिकारक मिलावट पाई जाती है । इनसे पेट भरते रहने पर स्वास्थ्य के लिए संकट खड़ा होता है, पैसा तो अधिक लगता ही है, इसलिए अच्छा यह है कि आटा, दाल, मसाले आदि की शुद्ध व्यवस्था घर पर ही बनाई जाए । आटा चक्की घर में रह सके, तो उससे अच्छा व्यायाम हो जाता है और आटा-दाल भी मिलता है । नकली दूध लेने की अपेक्षा तिल, मूँगफली, सोयाबीन को भिगोकर पीस लेने से उससे दूध का प्रयोजन पूरा कर लेना कहीं अच्छा है । जिनके यहाँ पशु पलते हैं और सारा दूध बेच देते हैं उनके लिए अच्छा है कि घी या मक्खन निकाल कर बेच दें और बची हुई छाछ या मक्खन निकले दूध से घर का काम चलाएँ इतना अंश चिकनाई का हर किसी को मिलना चाहिए । घरेलू शाक-वाटिका लगा लेने से जहाँ शुद्ध भाजी निकलती है वहाँ पैसे की भी बचत होती है । कपड़े घर पर धोने से जहाँ शारीरिक व्यायाम होता है, वहाँ बाजार में तेजाब से धुले कपड़ों के जल्दी फट जाने जैसी आर्थिक हानि सहनी पड़ती है, उपरोक्त सभी काम मिल-जुलकर किए जा सकें, उनमें घर के हर सदस्य को सहभागी बनाया जा सके तो यह एक अच्छा प्रचलन होगा । इसमें सहकारिता और श्रमशीलता को अपनाना पड़ेगा । स्त्रियों को ही इस काम महत्व के

समझे जाने वाले काम में ही मरते-खपते न रहने दिया जाए । इससे पुरुष वर्ग का अहंकार भी सिर पर न चढ़ेगा, और महिलाओं को छोटे काम के लिए रखी गई दासी जैसी हीनता की अनुभूति भी न होगी । गृह-व्यवस्था में परिवार के हर सदस्य की साझेदारी होनी चाहिए । उसमें छोटे बच्चों या रोगी, अबोध, असमर्थों को ही छूट दी जा सकती है । वैसे अपने हाथों अपना काम करने की आदत तो हर किसी में रहनी चाहिए । परावलंबन की प्रवृत्ति को निरस्त ही किया जाना चाहिए ।

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत परिवार के हर सदस्य के गले उतारा जाए । तड़क-भड़क का दूसरों को आकर्षित करने की दृष्टि से किया गया शृंगार शालीनता के निर्वाह में बाधक समझा जाना चाहिए । अनावश्यक ठाठ-बाट बनाने के लिए जेवर, बहुमूल्य कपड़ों में एवं फैशन बनाने के लिए हुए धन खर्च को अपव्यय ही समझा और उसे रोका जाना चाहिए, क्योंकि उसके कारण जो पैसा खर्च होता है उससे परिवार के स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वावलंबन जैसे आवश्यक साधन जुटाने में कटौती करनी पड़ती है । सादगी और स्वच्छता मिलकर सुरुचि का ऐसा वातावरण बना देते हैं, जिस पर अहंकारी शान-शौकत को निछावर किया जा सकता है । विचारशीलों की दृष्टि में हर अपव्यय, ओछेपन और बचकानेपन का ही प्रतीक माना जाता है और उस उच्छृंखलता के रहते आर्थिक या नैतिक सदाचार खो बैठने का खतरा निश्चित रूप से बढ़ता है । प्रामाणिकता और शालीनता बनाए रहने के लिए हर किसी को मितव्ययी होना चाहिए । परिवार के हर पक्ष में सादगी और सुरुचि का समावेश रहना चाहिए । इसी में दूरदर्शी समझदारी का समावेश है ।

बीमारियाँ गंदगी से, असंयम से, अस्त-व्यस्तता से उत्पन्न होती हैं । नशेबाजी, आवारागर्दी भी घटियापन भरती, उसे गया-गुजरा बनाती है । समय को दिनचर्या के व्यस्त शिकंजे में कसा रहना चाहिए । खाली समय बिताने की किसी को भी छूट नहीं

रहनी चाहिए, तथाकथित रिटायरों को भी नहीं । व्यस्त लोग अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ रहते हैं । नशेबाजी जैसे दुर्व्यसनों से बचे रहकर स्वास्थ्य रक्षा के क्षेत्र में आने वाले संकटों से बहुत हद तक बचा जा सकता है ।

बीमार पड़ने पर तीव्र मारक दवाएँ लेने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि आस-पास के क्षेत्र में उगने वाली किन्हीं जड़ी बूटियों से जानकार का परामर्श लेकर घरेलू उपचार कर लिया जाए । मसाले के रूप में प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ भी एक प्रकार से औषधियाँ ही हैं । उसका उपयोग थोड़ा प्रयत्न करने पर ही जाना जा सकता है और साधारण रुग्णता से अपने बलबूते निपटा जा सकता है । जड़ी बूटी चिकित्सा की जानकारी सर्वसाधारण को उपलब्ध कराने में शांतिकुंज के उत्साह भरे प्रयत्न चलते ही रहते हैं । इस आधार पर थोड़ी खाली जगह में ही अपने काम आने योग्य जड़ी बूटी वाटिका लगाई जा सकती है । वह पुष्पोद्यान से कहीं अधिक सुविधाजनक और स्वास्थ्य संरक्षक सिद्ध हो सकती है ।

मानसिक संतुलन
इस प्रकार सही रहे

मस्तिष्कीय स्वास्थ्य को सही रखने के लिए आवश्यक है कि जीवन को खिलाड़ी की तरह जिया जाए । उस भाग दौड़ में लगने वाली छोटी-मोटी ठोकरों, हार-जीतों को महत्त्व न दिया जाए । इन्हें रात-दिन के ज्वार-भाटे जैसा नियति का कौतुक-कौतूहल मात्र माना जाए । हर काम में चुस्ती और मुस्तैदी बरती जाए, पर यह आशा न रखी जाए कि इच्छित कामना के अनुरूप ही परिस्थितियाँ बनती चली जाएँगी । प्रतिकूलताएँ भी आती रहती हैं, उनका खट्टा-मीठा स्वाद तो चखते रहा जाए, पर अवसर ऐसा न आने दिया जाए कि हर्ष-शोक की इतनी असाधारण अनुभूति हो कि मानसिक संतुलन ही गड़बड़ा जाए । आवेश चढ़ दौड़े और उत्तेजना में ऐसा कुछ न कर बैठा जाए, जो अस्वाभाविक एवं अनावश्यक हो, जिसके लिए पीछे पछताना और लोगों का उपहास-तिरस्कार सहना पड़े ।

हर काम को पूरी समझदारी, जिम्मेदारी, तत्परता और तन्मयता के साथ किया जाए । उसमें आलस्य-प्रमाद को प्रवेश न होने दिया जाए । उपेक्षा-शिथिलता का लांछन न लगने दिया जाए । इतने पर भी यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि जो चाहा है वही होकर रहेगा । तैयार उसके लिए भी रहा जाए कि आंशिक सफलता मिले अथवा सर्वथा असफल रहना पड़े, तो विचलित होने की मनः स्थिति न बनने पाए । सोचा जाना चाहिए कि संसार हमारे लिए ही नहीं बना है । इसमें असंख्यों की साझेदारी है । जो अपने लिए लाभदायक समझा जाता है, उससे दूसरों की हानि भी हो सकती है । प्रकृति का संतुलन बनाए रखने के लिए सभी का ध्यान रखना पड़ता है । खेल में एक जीतता है तो दूसरा हारता है । यही बात घटनाक्रमों के संबंध में भी लागू होती है । इच्छापूर्ति की आतुरता

■ प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

■ लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

■ नवीन संस्करण :

२००५

■ मूल्य : ५) रुपया।

■ मुद्रक :

युग निर्माण प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

की महत्वाकांक्षा बनी रहती है । आवश्यक नहीं कि हर किसी की पूरी ही होती रहें । अस्तु किसी भी विचारशील को हार-जीत के लिए, अनुकूलता-प्रतिकूलता में से कोई भी हाथ लगने की संभावना से पूर्व मानस बना लेना चाहिए । प्रतिकूलताएँ ऐसी न हों, जो आवेश ग्रस्त मानस बना दें और अपनी विवेक शक्ति का ही अपहरण कर लें । यही तो एक मात्र ऐसा माध्यम है, जिसके सहारे कठिनाइयों से बचना-छूटना संभव होता है । अन्य मार्ग खोजने और नया उपाय सोचने के लिए चिंतन चेतना काम करती रह सकती है । यह स्तर सही रहे तो यह संभव है कि वर्तमान अवरोध से निपटना और नए सिरे से नया कदम उठा सकना संभव हो सके ।

मन को हर स्थिति में हल्का-फुल्का रहने दिया जाए । संतोष और धैर्य को इतनी मजबूती से पकड़े रहा जाए कि वे किसी भी कारणवश छिनने न पाएँ । हर्ष-शोक को क्षणिक उभार समझा जाए और उन्हें जुगनू की चमक जैसा अस्थिर माना जाए । कल्पना की रंगीली उड़ानों में उड़ते हुए शेखचिल्ली का अनुसरण न किया जाए और न आशंका से इतना भयभीत रहा जाए कि अगले दिनों कोई विपत्ति ही टूटने वाली है । नाविक रात को भी नाव चलाते हैं, पर ध्रुव तारे को देखकर दिशा ज्ञान पाते रहते हैं । उज्ज्वल भविष्य की संभावना पर विश्वास करना वह ध्रुव तारा है, जिस पर विश्वास रखे रहने पर लक्ष्य तक जा पहुँचने की आशा-ज्योति प्रज्ज्वलित रहती है । इसे स्वयं बुझा लेने पर तो इस तमिस्रा के माहौल में मात्र अंधकार ही हाथ रह जाता है । निराशा एक प्रकार की मानसिक अपंगता है, जिसकी पकड़ में जकड़ जाने पर कुछ करते-धरते नहीं बन पड़ता । रुग्णता, दुर्बलता, जराजीर्णता जैसी परिस्थितियों में मनुष्य असहाय-असमर्थ बन कर रह जाता है । यही दशा उन लोगों की होती है, जो किन्ही असफलताओं को तिल का ताड़ बनाते हैं । रस्सी का साँप बनाना और झाड़ी में से भूत निकलना ऐसा ही मानसिक विभ्रम है, जैसा कि निराशा ग्रस्त, खीजते, रोते, कलपते

रहने वालों के सामने निरंतर खड़ा रहता है । विपत्ति के इस मानसिक भँवर से बचे रहने में ही भलाई है । संतुलित, शांत, स्थिर और आशांवित रहने का अभ्यास सतर्कतापूर्वक निरंतर करना चाहिए ।

शरीर की बलिष्ठता और सुंदरता का महत्त्व सभी जानते हैं । उसके लिए इच्छा और चेष्टा भी करते हैं । इससे अधिक महत्वपूर्ण मनोबल की प्रखरता और प्रसन्न मुद्रा को समझा जाना चाहिए । आत्मविश्वास के रहते कोई कार्य असंभव नहीं रह जाता । गई गुजरी परिस्थितियों में सर्वथा साधनहीन रहते हुए भी लोगों ने आत्मविश्वास के सहारे प्रगति का मार्ग स्वयं सोचा, खोजा और उस पर स्वयं अपने पैरों चलते हुए उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हैं । यह संभावना हर किसी के साथ जुड़ी रह सकती है । शर्त एक ही है कि कठिनाई से निराश होकर हाथ-पैर फुला न बैठा जाए ।

मुस्कान मनुष्य के पास एक प्रत्यक्ष दैवीय वरदान है । जो हँसता-हँसाता रहता है, वह चुंबक की तरह आकर्षण शक्ति से भरा पूरा और कमल पुष्प जैसा सुंदर सुगंधित बना रहता है । यह अपना निजी उत्पादन है । यदि उसे स्वभाव का अंग बना लिया जाए और दृढ़ता पूर्वक उसका अभ्यास कर लिया जाए, तो व्यक्तित्व असाधारण रूप से सुंदर बन जाता है । उसे न बुढ़ापा छीन सकता है और न कठिनाइयों के बीच रहते हुए ही उस पर कोई आँच आती है । शरीर मात्र यौवन के दिनों ही बलिष्ठ रहता है । बचपन और बुढ़ापे में तो असमर्थता ही छाई रहती है । बीमारी और परेशानी ही उसे लुंज-पुंज कर देती है, पर आत्मविश्वास के आधार पर उपार्जित किया गया मनोबल ऐसा है, जो सदा-सर्वदा साथ देता है और प्रचण्ड जीवनी शक्ति की तरह हर कठिनाई से लड़ पड़ने के लिए समुद्यत रहता है । प्रसन्न रहना उच्च स्तरीय कला-कौशल है । जिसे मुस्काते रहने की आदत है, वह संपर्क में आने वालों पर अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ता है । उस सौंदर्य की अपनी अतिरिक्त गरिमा है, जिससे हर कोई देखने वाला प्रसन्नता और उत्साह उपलब्ध करता है ।

निकट आने वाले किसी फूल-फल वाले महकते वृक्ष की सघन छाया में बैठने जैसा आनंद पाते हैं । प्रसन्नचेता के सान्निध्य में रहकर प्रसन्न रहने के कौशल में प्रवीण होने के लिए आरंभ में दर्पण में अपनी मुस्काती छवि का सौंदर्य अनुभव करते हुए स्वभाव का अंग बनाया जा सकता है, पर बाद में तो वह एक आदत ही बन जाती है, जो व्यक्ति का अविच्छिन्न अंग बनी रहती है । बुरे दिनों में भी उसका साथ नहीं छूटता । प्रसन्न रहना प्रकारांतर से सफल और सुखी जीवन को उपलब्ध कर लिए जाने की घोषणा करते रहना है । इस तथ्य पर विश्वास भी किया जाता है और सम्पर्क में आने वाले उस स्तर को अपनाने वाले व्यक्ति से प्रभावित भी होते हैं, सम्मान करते और सहयोग भी देने के लिए स्वयं उत्सुक रहते हैं । इसके विपरीत संकोची स्वभाव के डरे, सहमें, उदास, एकाकी प्रकृति के लोग सदा उपहासास्पद बने रहते हैं । कोई उनकी कठिनाई पूछने और सहानुभूति दर्शाने नहीं आते, जैसा कि इस प्रकार के लोग आमतौर से आशा किया करते हैं । जब हम हँसते हैं, तो दस लोग उस आनंद में भागीदार बनने के लिए साथ लग लेते हैं, पर जब मुँह लटकाए रहने की स्थिति में होते हैं तो पुराने साथियों में से भी अधिकांश छिटकते और अलग हटते जाते हैं । दो परस्पर विरोधी परिस्थितियों में से किसी का वरण कर लेना सर्वथा अपने हाथ की बात है । परिस्थितियों की तुलना में मन: स्थिति का वर्चस्व कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा है । इस प्रकट रहस्य से हर किसी को अवगत रहना चाहिए ।

स्वभाव की कुटिलता एक ऐसी विपत्ति है, जिसे दुर्दिनों का पूर्वाभास भी कहा जा सकता है । स्वार्थी, लालची, अहंकारी प्रकृति के व्यक्ति इच्छित बड़प्पन को सहज रीति से पा सकने में सफल नहीं हो सकते । तब उन्हें कुटिलता ही सूझती है । आतंक और छद्म यह दो ही हथियार उनके पास बने रहते हैं, जिनका वे उचित-अनुचित का विचार किए बिना समय-कुसमय इन का प्रयोग करने

शेखीखोरी सस्ती वाहवाही लूटने के लिए कराई गई चमचागीरी, चारणबाजी, विज्ञापनबाजी, धूमधाम में समय और पैसा तो खर्च होता ही है, साथ ही जिन्हें इस काम को करने के लिए सहयोगी बनाया जाता है, उनका भी समय और श्रम अनुत्पादक कार्य में बर्बाद होता है । हानि इतनी ही होती तो भी उसे दर-गुजर किया जा सकता था । सस्ती वाहवाही लूटने की प्रवृत्ति चरितार्थ होती देखकर अन्य अनेकों के मन में वैसी ही नई विडम्बना रचने की फिक्र उभरती है और वे भी वैसा ही करने के लिए अपने ढंग से कुछ न कुछ कर गुजरने के लिए आतुर होते हैं । मृतक भोज, धूमधाम वाली शादियों, तीर्थ यात्राओं के पीछे यह सस्ती वाहवाही लूटने की आकांक्षा ही प्रधान रूप से काम करती है ।

यह दुष्प्रवृत्ति भी कामुकता की तरह ही आकर्षक, उत्तेजक और मस्तिष्क में खलबली मचाकर उसे सत्प्रयोजनों से विलग करती है । मानसिक क्षेत्र में वह गुंजायश नहीं रहती, जिससे प्रगति की दूरगामी योजनाएँ शांत चित्त से बन सकें और कोई ठोस उपलब्धि हस्तगत कर सकें । यही कारण है कि लोकेष्णा, कामोत्तेजना और वित्तेषणा को गर्हित स्तर का ठहराया गया है और इन विकृत महत्वाकांक्षाओं से बचे रहने के लिए कहा गया है, मनोविकारों से ग्रस्त न होने के लिए इन तीनों अनावश्यक उत्तेजनाओं से अपने आपको भड़काने-जलाने से बचाकर ही रहना चाहिए ।

चिंता, भय, क्रोध, आवेश, आशंका, कुकल्पना जैसी सनकों में अधिकांश कुकल्पनाएँ ही काम करती रहती हैं । निराशा, हीनता, दीनता जैसी प्रवृत्तियाँ भी मनुष्य को अपंग बनाती हैं । इससे बचना आत्मशिक्षण पर अवलंबित है । जिस प्रकार दूसरों को कुमार्गगमन से रोका जाता है, उसी प्रकार अपने संबंध में अधिक सतर्कता और जागरूकता बरतने की आवश्यकता है ।

मस्तिष्क को सदा रचनात्मक कामों में लगाए रहा जाए । इसी आधार पर प्रस्तुत विपत्तियाँ भी टलती हैं और प्रगति के लिए उपयुक्त

राह भी मिलती है । अवांछनीयताओं को निरस्त करने के लिए रचनात्मक दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाले उपाय ही अपनाने चाहिए । मात्र कमर कसकर लड़ने पर उतारू हो जाना ही परास्त करने का उपाय नहीं है । इससे तो आक्रमण-प्रत्याक्रमण का ऐसा कुचक्र भी चल सकता है, जिसका कभी अंत ही न हो । कीचड़ कीचड़ से नहीं धोया जा सकता । अनाचार के प्रति उसी अस्त्र का उपयोग करना आवेश की स्थिति में लगता तो अच्छा ही है और आवश्यक भी, पर उसकी परिणतियों पर ध्यान देने से निष्कर्ष निकलता है कि सर्वसाधारण को तालमेल की नीति ही अपनानी चाहिए । प्रताड़ना देने का कार्य शासन के हाथ ही छोड़ना चाहिए । निजी क्षेत्र में तो असहयोग, विरोध और बहिष्कार जैसे आधार ही समस्याओं का ऐसा हल निकाल देते हैं, जिनमें कुछ समय भले ही लगे, पर और भी अधिक दुःखदायी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने से बचा लेते हैं ।

मानसिक आवेगों से बचे रहने की गीतकार ने असाधारण उपयोगिता बताई है । शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा को ध्यान में रखते हुए भी उस नीति को अपनाया जाना चाहिए ।

समग्र स्वास्थ्य का शुभारम्भ

आत्म निर्माण से

शरीर और मन स्वस्थ रहे तो अभीष्ट समर्थता प्राप्त हो सकती है । चिंतन और चरित्र सही हो तो फिर सज्जनोचित व्यवहार भी बन पड़ता है, शिष्टाचार और मित्रता का सहयोगी क्षेत्र सुविस्तृत होता है, यह बड़ी उपलब्धियाँ हैं । हम सुधरे तो जग सुधरे की उक्ति छोटी होते हुए भी अत्यंत मार्मिक और सारगर्भित है । दूसरों की सेवा सहायता करने में आरंभिक किंतु अत्यंत प्रभावी तरीका यह है कि जैसा दूसरों को देखना चाहते हैं वैसा स्वयं बनकर दिखाएँ । दूसरे अपनी इच्छानुसार बने या न बने, चले या न चले यह संदिग्ध है, क्योंकि सभी पर अपना प्रभाव, अधिकार कहाँ है ? पर अपना आपा तो पूर्णतया अपने अधिकार क्षेत्र में हैं । जब शरीर को इच्छानुसार चलाया जा सकता है जब अपने पैसे को इच्छानुरूप खर्च किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि अपने स्वभाव और क्रिया-कलापों को इस ढाँचे में न ढाला जा सके, जिसे शालीनता का प्रतीक-प्रतिनिधि कहा जा सके । श्रेष्ठ शुभारंभ अपने घर से ही किया जाना चाहिए । घर का दीपक जलता है तो आँगन से लेकर पड़ौस तक में प्रकाश फैलाता है । दूसरों को प्रभावित करने, बदलने से पहले यदि उसी इच्छित स्तर का स्वयं अपने को बना लिया जाए तो निश्चित रूप से आधी समस्या हल हो जाती है । अपनी ओर आँखें बंद रखी जाएँ और दूसरों को सुधारने-समझाने के लिए निकल पड़ा जाए तो बात बनती नहीं, अभीष्ट सफलता मिलती नहीं । विफलता की ऐसी निराशा भरी घड़ी आने से पूर्व अच्छा यह है कि कम से कम अपने को तो उस स्तर का बना ही लिया जाए, जैसा कि अन्यान्य लोगों को देखना चाहते हैं ।

समाज सुधार एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है । जिस

समुदाय में हम रहते हैं उसकी मान्यताओं और गतिविधियों को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो प्रतीत होगा कि उनमें अधिकतर अवांछनीयताएँ ही भरी पड़ी हैं। आस्थाओं, मान्यताओं, आकाँक्षाओं में मानवी गरिमा के प्रतिकूल अनाचार का ही बाहुल्य है। लोभ, मोह और अहंकार के आवेश में लोग प्राय: निरर्थक और अनर्थ भरी रीति-नीति अपनाये हुए, दिग्भ्रान्तों की तरह भूल-भुलैयों में भटकते देखे जाते हैं। मानव जीवन जैसे अलभ्य अवसर का प्राय: दुरुपयोग ही होता रहता है, ऐसा कुछ बन नहीं पड़ता जिस पर संतोष और आनंद से भरा-पूरा गर्व किया जा सके, जिससे दूसरे कोई उपयोगी प्रेरणा या प्रकाश ग्रहण करें, इस अभाव का नाम ही भ्रष्टता और दुष्टता है। मान्यताएँ और आकांक्षाएँ भी बुद्धि को प्रभावित करती हैं, उसी के समर्थन के लिए सहमत होती और तदनुरूप ताने-बाने बुनती देखी गई हैं, इसलिए मात्र बौद्धिक समाधान कुछ विशेष काम नहीं आते। भाषणों और प्रवचनों की शक्ति सीमित है, लेखनी भी एक सीमा तक ही काम कर पाती है, क्योंकि पूर्वाग्रस्त विचारधारा स्वभाव का अंग बन चुकी होती है और वह अभ्यस्त हठवादिता को छोड़ने के लिए सहज तैयार नहीं होती। व्यक्ति या समाज के सुधार के लिए परामर्श प्रतिपादनों से अंत:करण को गहराई तक पहुँचना चाहिए ऐसी प्रखर प्रतिभा का उत्पादन उत्कृष्ट व्यक्तियों से ही उग सकना संभव होता है। प्राथमिकता और प्रमुखता देने योग्य क्षेत्र यही है, विशेषतया उनके लिए जो दूसरों को, समुदायों को सुधारने की आशा-अपेक्षा करते हैं और उसके लिए आतुर भी दीखते हैं। यह भावना एवं चेष्टा सराहनीय है, पर उसे प्रभावशाली बनाने के लिए यही सर्वसुलभ है कि आरंभ अपने आप से किया जाए। यही वह बीजारोपण है जो आगे चलकर अंकुर, पौधा वृक्ष बनते हुए फूल-फलों से लदता है, उसकी छत्रछाया में बैठकर अनेकों को राहत पाने का अवसर मिलता है।

यह ठीक है कि समाज से व्यक्ति प्रभावित होता है। वातावरण

का प्रभाव एवं दबाव ऐसा है, कि हलके-फुलके व्यक्तित्वों को अपने प्रवाह में बहा ले जाता है। अंधड़ के साथ तिनके-पत्ते उड़ते देखे गए हैं। सामूहिक प्रथा-प्रचलनों का प्रभाव भी ऐसा ही है, वह दुर्बल मानस वाले अधिकांश लोगों पर प्रचलनों का अनुसरण करने के लिए दबाव डालता है। देखा भी यही जाता है कि विनिर्मित वातावरण में रहने वाले लोगों का चिंतन, चरित्र, स्वभाव, अभ्यास भी उसी स्तर का बन जाता है। इसलिए समाज विज्ञानी इस बात पर अधिक जोर देते हैं, कि सामूहिक वातावरण को, सार्वजनीन प्रचलन को सुधारने के लिए प्रबल प्रयत्नों का आश्रय लिया जाए । धुँआधार प्रचार से लेकर आंदोलन करने, लोक मानस बदलने का प्रयत्न किया जाए। यथासंभव असहयोग, विरोध या संघर्ष का भी आश्रय लिया जाए। आवश्यकतानुरूप शासन की शक्ति का भी इसके लिए उपयोग किया जाए, बन पड़े तो बहिष्कार, सत्याग्रह जैसे आयुधों का भी प्रयोग किया जाए। यह सभी प्रतिपादन-परामर्श अपनी जगह सही हैं, उन्हें आजमाया और क्रियान्वित भी किया जाए। इन उपायों से वातावरण को बदलने में किसी हद तक सहायता मिलती भी है।

यह सब कुछ आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। प्रचार कभी भी चिरस्थाई नहीं होते, वह अपने समय में अपनी प्रचण्डता का प्रदर्शन करके थोड़े ही समय में शांत हो जाते हैं और प्रचार प्रभाव से उत्पन्न हुआ आवेश कुछ ही देर में पानी के बबूले की तरह उछल-कूद कर समाप्त हो जाता है। स्थायित्व अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने में है, यदि प्रचारकों का निजी व्यक्तित्व घटिया हो तो फिर यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि, मात्र वाचालता के सहारे किन्हीं को अभ्यस्त कुसंस्कारों का परित्याग करने और आदर्शपालन की व्रतशीलता को धारण करने के लिए सहमत किया जा सकेगा। जले दीपक ही नए दीपकों को अपनी प्रज्ज्वलित लौ के सम्पर्क में लाकर उन्हें भी प्रकाशवान् बनाते हैं। जो स्वयं बुझे पड़े हैं वे नए दीपकों को प्रज्ज्वलित कर सकेंगे इसकी आशा नहीं ही करनी चाहिए।

कीचड़ से कीचड़ कैसे धोई जा सकेगी ? जिसने अपने प्रतिपादनों से अपने आपको सहमत करने में सफलता नहीं पाई, वह दूसरों को सुधार के सन्मार्ग पर चला सकेगा, ऐसी आशा किस प्रकार फलित हो ? जो अपने तक को नहीं सुधार सका वह अपने अनुकरण का निमंत्रण किसी को दे नहीं सकता। उसके वाक्‌जाल में लोग देर तक फँसे नहीं रह सकते, यथार्थता आज नहीं तो कल उजागर होकर रहती है। जब वस्तुस्थिति में, कथनी और करनी में भिन्नता देखी जाती है, तो उन सभी का विश्वास डगमगा जाता है जिन्हें परामर्शों की झड़ी लगाकर प्रभावित-सहमत करने में तात्कालिक सफलता दीख पड़ने लगी थी। ऐसों का आदर्शवादी उत्साह देखते-देखते ठण्डा पड़ जाता है।

कहने को कोई कुछ भी कहता रहे, पर लोगों की जमी हुई मान्यता यह है कि इन दिनों आदर्शों का परिपालन संभव नहीं है। उन्हें कहने-सुनने का मनोविनोद भर समझा जा सकता है। कथा श्रवण से स्वर्ग-मिलने जैसी मूढ़मान्यताओं से ग्रसित तो कितने ही लोग होते हैं, पर उन भक्त-श्रोताओं में से कदाचित ही कोई ऐसे निकलते हैं, जो आदर्शों को व्यवहार में उतारने के लिए आवश्यक साहस दिखा सकें। जब उदाहरण ही दीख नहीं पड़ते तो कोई कैसे माने कि आदर्श का परिपालन व्यावहारिक एवं संभव भी है। यही एक चट्टान इतनी बड़ी है, जिससे टकरा कर सतह पर बहते हुए अनेक जलते दीपक बुझ जाते हैं। छोटी डोंगियाँ भी इन्हीं अवरोधों से टकराकर प्राय: डूबती देखी जाती हैं। प्रामाणिक उदाहरणों के बिना लोगों को सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना इन दिनों इसीलिए विशेष रूप से कठिन हो गया है कि निजी जीवन में उत्कृष्टता की कसौटी पर खरे सिद्ध होने वाले उपदेष्टा ढूँढ़े नहीं मिलते। यदि उनका ऐसा अकाल न पड़ा होता तो, प्राचीनकाल के धर्म-प्रचारकों की तरह इन दिनों भी समाज का उच्चस्तरीय निर्माण कर सकना संभव रहा होता, तब सतयुगी वातावरण सर्वत्र दिखाई

देता। उत्कृष्टता की पक्षधर भाव-चेतना भी एक प्रकार के कृषि कार्य एवं उद्यान आरोपण की तरह हैं। उसके लिए सिंचाई तथा रखवाली की सुव्यवस्था रखने वाला जागरूक संरक्षक चाहिए। किसान या माली का स्वेद रिसन चल पाए बिना कोई फसल कभी फलती-फूलती और कोठे भरने में समर्थ नहीं होती। प्राचीनकाल में लोकमानस का स्तर ऊँचा उठाए रहने में चिंतन, चरित्र, व्यवहार में शालीनता का गहरा पुट लगाए रहने में, धर्म प्रचारकों का जो पुरोहित वर्ग निरंतर कार्य-संलग्न रहता था, उसका अब कहीं अता-पता भी नहीं दीख पड़ता। ऐसी दशा में खेत-उद्यानों को चौपट हुआ देखा जाता है तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

पानी का स्वभाव नीचे की ओर बहने का है। वस्तुएँ सहज ही ऊपर से हटाने पर नीचे आ गिरती हैं। लोक चिंतन और प्रचलन के संबंध में भी यही बात है। यदि उन्हें उत्कृष्टता की दिशा में उछालने वाला तंत्र न हो तो पतन-पराभव के गर्त में उनका गिरते चले जाना सहज स्वाभाविक है। इन दिनों यही घटनाक्रम घटित हो रहा है। व्यक्तियों के समूह का नाम ही समाज है। व्यक्तियों का निजी स्तर जैसा भी भला-बुरा होता है, समाज भी ठीक उसी प्रकार का बन जाता है। व्यक्तित्वों में निकृष्टता भरती-बढ़ती चले और समाज-राष्ट्र का स्तर ऊँचा बना रहे, यह तो हो नहीं सकता। इसलिए देश, धर्म, समाज, संस्कृति की वास्तविक सेवा करने के इच्छुकों में से प्रत्येक को अपने प्रभाव क्षेत्र में व्यक्तित्वों का स्तर ऊँचा उठाने के लिए सच्चे अर्थों में ठोस प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसके लिए सर्वप्रथम अपने को, अपने निजी परिकर को वैसा बनाना पड़ता है जैसा कि अन्यान्यों को सुधारने के संबंध में सोचा जाता है। आत्म निर्माण ही विकसित होकर समाज निर्माण या विश्व निर्माण जैसे महान् प्रयोजन में कुछ कहने लायक योगदान दे पाता है। ठोस प्रयत्न के लिए बनी सही योजना ही लक्ष्य तक पहुँचती और अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करती है। समाज सुधार के क्षेत्र में जितने भी कुछ कारगर उपलब्धियाँ प्राप्त की

स्वास्थ्य क्या है ?

अच्छा स्वास्थ्य और अच्छी समझ जीवन के दो सर्वोत्तम वरदान हैं । संसार के सारे कार्य स्वास्थ्य पर निर्भर हैं । जिस काम के करने में किसी प्रकार की तकलीफ न हो, श्रम से जी न उकताए, मन में काम करने के प्रति उत्साह बना रहे और मन प्रसन्न रहे और मुख पर आशा की झलक हो, यही शरीर के स्वाभाविक स्वास्थ्य की पहचान है । स्वाभाविक दशा में बिना किसी प्रकार की कठिनाई के साँस ले सके, आँख की ज्योति और श्रवण शक्ति ठीक हो, फेफड़े ठीक-ठीक ऑक्सीजन को लेकर कार्बन डाइआक्साइड को बाहर निकालते हों, आदमी के सभी निकास के मार्ग-त्वचा, गुदा, फेंफड़े ठीक अपने कार्य को करते हों, वह व्यक्ति पूर्णतया स्वस्थ है ।

हम सभी लोग जानते हैं कि ऐसा आदमी ही बीमार पड़ता है जिसका जीवन नियमित नहीं है और प्रकृति के साथ पूरा-पूरा सहयोग नहीं कर रहा है । हमारा सदा सहायक सेवक शरीर है । ये चौबीस घंटे सोते-जागते हमारे लिए काम करता है । वफादार सेवक को समर्थ निरोग एवं दीर्घजीवी बनाए रखना प्रत्येक विचारशील का कर्त्तव्य है । केवल स्वस्थ व्यक्ति ही धनोपार्जन, सामाजिक, नैतिक, वैयक्तिक सब कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है । जिसका स्वास्थ्य अच्छा है उसमें प्राण शक्ति अधिक होती है जिसके कारण सुख-शांति का अक्षय भंडार उसे प्राप्त होता है । स्वास्थ्य लाभ के लिए स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना आवश्यक होता है । आदतों और दिनचर्या का स्वास्थ्य से घनिष्ठ संबंध है ।

हैं, उन सभी को सर्वप्रथम आत्म निर्माण का कार्य हाथ में लेना पड़ा है। यही सनातन उपचार आज की परिस्थितियों में भी उतना ही सही और कारगर है।

प्रचलित और अभ्यस्त अवांछनीयता के घेरे को तोड़कर उत्कृष्टता के क्षेत्र में प्रवेश करना एक साहसिक कार्य है। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण को तोड़कर अन्तरिक्ष में प्रवेश करने वाले राकेटों की तरह इसके लिए अतिरिक्त ऊर्जा चाहिए। वह यदि समाज के शुभेच्छुओं के जीवन में नहीं है, तो उन्हें प्रचण्ड संकल्प को उभारकर अपने में उत्पन्न करनी चाहिए। एकाकी निश्चय करने और उस पर चल पड़ने के लिए अपना ही शौर्य-पराक्रम काम देता है. इसके लिए तथाकथित स्वजन, संबंधियों से प्रोत्साहन या सहयोग प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है। सभी को ढर्रा पसंद है, सभी सुविधा संवर्धन चाहते हैं, सभी आदर्शों की उपेक्षा करते हैं। अपवाद तो इस क्षेत्र में कहीं-कहीं ही दीख पड़ते हैं, ऐसी दशा में लोगों का मुँह ताकने या अन्यों का प्रयोग करने एवं उनके आगे आने की राह देखने के लिए प्रतीक्षा में बैठे रहना व्यर्थ है। इतिहास के पृष्ठों पर जिन महामानवों की गुण गाथायें विद्यमान हैं, उन्हीं को मार्गदर्शन करने एवं प्रकाश प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त मान लिया जाना चाहिए।

प्रचलित अवांछनीयताओं से अपने को मुक्त करना चाहिए। अभीष्ट सत्प्रवृत्तियों को अपने स्वभाव एवं अभ्यास में उतारना चाहिए, इतना बन पड़ने पर लोगों को यह कहने में हिचक लगेगी, कि आदर्शवादिता का परिपालन असंभव या अव्यावहारिक है। अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए पस्त-हिम्मत लोगों में नए उत्साह का संचार किया जा सकता है।

समर्थ प्रगतिशीलता कैसे अर्जित हो ?

जन्मतः मनुष्य कोरे कागज की तरह होता है। संपर्क में आने वाले वातावरण द्वारा उसका स्वभाव या सम्मान गढ़ा जाता है। प्रचण्ड गर्मी के दिनों में स्रोते सूख जाते हैं और घास-पात के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं, पर वर्षा आने पर वह बात नहीं रहती। देखते-देखते उमस का माहौल बदलता है और सर्वत्र जल भरा दीखता है। जमीन पर हरी मखमल का फर्श बिछ जाता है, यह परस्पर विरोधी चमत्कार वातावरण के परिवर्तन से ही बन पड़ते हैं। ऋतुएँ अपने प्रभाव से हर किसी को अपने-अपने ढंग से प्रभावित करती हैं। युद्ध, उपद्रव, आतंक से प्रत्यक्ष प्रभावित भले ही सीमित लोग ही होते हों, पर उनके कारण भयभीत, अस्त-व्यस्त अधिकांश लोगों का मानस बनता है। बसंत ऋतु हर किसी को उल्लास और सौन्दर्य की अनुभूति कराती है। पर्व-त्यौहारों और हर्षोत्सवों के दिनों सर्वसाधारण का मन हुलसने लगता है। समुन्नत, सुसंस्कृत वातावरण में साधारण जनों को भी सभ्यता का स्वरूप जानने और उस ढाँचे में ढलने का अनायास ही सुयोग मिलता है। इसके विपरीत दुष्ट, दुर्जनों, अनाचारी, व्यभिचारी, दुर्व्यसनी लोगों के बीच रहते हुए अच्छे-भले भी उसी प्रवाह में बहने लगते हैं। व्यक्तिगत प्रयास और साहस का मूल्य समझते हुए भी देखने में यही आता है, कि वातावरण का प्रभाव-दबाव भी कम सशक्त नहीं है, वह भी बहुत कुछ कर गुजरने में समर्थ होता है। जर्मनी में नाजीवाद, रूस में साम्यवाद जनता की निजी उपलब्धि रही थी, वहाँ लोकमानस को शासन तंत्र ने अपने अनुरूप ढालने में सफलता पाई थी। सतयुग भी सीमित संख्या वाले ऋषि-मनीषियों की ही अनुकृति था। समाज सुधारकों और राष्ट्र-निर्माताओं ने भी योजनाबद्ध रूप से सुसंगठित प्रयास किए हैं, और

है तो कोई कारण नहीं कि प्रेरणाप्रद वातावरण बनाकर असंख्य जन समुदाय को उत्कृष्ट आदर्शवादिता अपनाने के लिए प्रोत्साहित न किया जा सके।

प्राचीनकाल में मनीषाऐं–प्रतिभायें इस प्रयोजन को व्यक्तिगत रूप से मिल–जुलकर पूरा कर लिया करती थीं, पर आज तो परिस्थितियाँ ही दूसरी हैं। समर्थ प्रचारतंत्र ही अभीष्ट वातावरण बनाने में समर्थ हो सकता है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म और साम्यवाद के द्रुतगति से अग्रगामी होने के प्रत्यक्ष प्रभाव सामने प्रस्तुत हैं। इन दोनों ने आँधी–तूफान की तरह बढ़–चढ़कर जन समुदाय को, सामान्य मस्तिष्कों को अपने ढाँचे में ढाल लेने में अप्रत्याशित सफलता पाई है। प्राचीनकाल के अनेकानेक धर्म सम्प्रदाय, दर्शन और संगठन ऐसे ही सामूहिक प्रयासों के प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुए और क्रमश: चक्रवृद्धि रीति–नीति अपना कर आगे बढ़ते चले गए। इन दिनों भी वह यथार्थता यथास्थान अवस्थित है। समाचार पत्र, साहित्य, सिनेमा, टी०वी०जैसे कुछ समर्थ तंत्रों ने सामान्य जनमानस को अपने ढाँचे में ढाल लेने में असाधारण सफलताएँ पाई हैं। तानाशाही राजतंत्र भी इसी अस्त्र के सहारे इच्छा या अनिच्छा से असंख्यों को अपने आदेशों का परिपालन करने के लिए बाधित करते रहे हैं। तथ्य बताते हैं कि जो भूमिका किसी समय में अवतारों, देवदूतों, विशिष्ट प्रतिभाओं द्वारा संपन्न की जाती रही हैं, वे आज उनका अभाव होने पर भी समर्थ प्रचार एवं प्रभाव तंत्र के सहारे संपन्न की जा सकती हैं। समय को देखते हुए यही उपयुक्त भी है। युग मनीषियों को इस सामयिक आवश्यकता पर पूरी गंभीरतापूर्वक विचार करना और उसका ढाँचा खड़ा करने में जुट जाना चाहिए।

अपने समाज में इन दिनों अनेक अवांछनीयताएँ, अनैतिकताएँ, मूढ़ मान्यताएँ, अंध परम्पराएँ, कुरीतियाँ प्रचलित हैं। बाल विवाह, कन्या विक्रय, वर विक्रय, मृतक भोज, भिक्षा व्यवसाय, जातिगत ऊँच–नीच, पर्दा प्रथा आदि कुप्रचलनों की परिणतियों ने दूरगामी दुष्परिणाम

जन-समुदाय को अपना अनुयायी आदर्श अपनाने के लिए तैयार किया है । ऐसे लोगों में गाँधी, बुद्ध, ईसा आदि मनस्वी लोक निर्माताओं का उदाहरण सर्वसाधारण की आँखों के सामने तैरता है।

आज के अनौचित्य भरे चिंतन, स्वभाव एवं क्रिया-कलाप उन लोगों की देन हैं जिनने लोकमानस को प्रभावित करने की शक्ति को उभारा और उसके मन चाहे प्रयत्न से लोक प्रचलन को अनुपयुक्त मार्ग पर धकेला। इसमें साहित्यकारों, कलाकारों, अभिनेताओं, प्रचारकों, नेताओं को विशेष रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। टी० वी०, सिनेमा, रेडियो जैसे तंत्र शिक्षित-अशिक्षित सभी को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हैं। शासन या समाज द्वारा जिन लोगों का, जिन कृत्यों का समर्थन किया जाता है, प्रोत्साहन मिलता है उसी प्रकार का लाभ प्राप्त करने के लिए असंख्यों का मन मचलता है। समारोहों, जुलूस-प्रदर्शनों के माध्यम से उत्पन्न किए जाने वाले वातावरण भी उन लोगों तक को अपने प्रवाह में घसीट ले जाते हैं, जिनको प्रत्यक्षतः इससे कुछ लेना देना नहीं है। वातावरण के प्रभाव से बच निकलना या उससे विपरीत दिशा में स्वतंत्र चिंतन के आधार पर चल सकना किन्हीं बिरलों के लिए ही संभव होता है।

व्यक्ति निर्माण से लेकर समाज निर्माण तक के लिए, देश को ऊँचा उठाने एवं आगे बढ़ाने के लिए जहाँ व्यक्तिगत जीवन को

उत्पन्न करने वाली समस्याओं के बवण्डर खड़े किए हुए हैं। आलस्य और प्रमाद के कारण मनुष्य की आधी उत्पादक शक्ति नष्ट होती रहती है। शिक्षितों की बेरोजगारी का एक बड़ा कारण यह है कि कुर्सी-मेज पर बैठकर काम करने की ही उनकी माँग रहती है, श्रमसाध्य कार्यों की ओर से अरुचि दिखाई जाती है। शिक्षा के साधनों में भी बड़ी कठिनाई यह है, कि लोगों को शिक्षा का महत्व समझने और उसके लिए उत्सुकता प्रकट करने का मानस नहीं है अन्यथा सरकारी प्रौढ़ शिक्षा आन्दोलन से लेकर सेवाभावियों द्वारा किए जाने वाले शिक्षा संवर्धन के प्रयास असफल न होते। स्कूली शिक्षा के साथ जुड़े हुए पाठ्क्रम भी ऐसे हैं जिनमें व्यावहारिक जीवन के साथ जुड़ी समस्याओं के समाधानों का अभाव ही रहता है। निजी उत्पादनों और व्यवसायों का प्रशिक्षण भी उसमें नहीं के बराबर हो पाया जाता है। नारी का पिछड़ापन, आधी जनसंख्या को पक्षाघात, पीड़ितों की तरह अपंग बनाए हुए हैं। यदि उसे पुरुषों की तरह ही सुयोग्य और उत्पादक कार्यों में निरत रहने का अवसर मिला होता तो उतने भर से देश की समृद्धि और प्रगति दूनी हो गई होती।

भाग्यवाद, भूत-पलीत, ग्रह-नक्षत्र, शकुन, मुहूर्त, टोना-टोटका,जादू चमत्कार जैसी अनेकानेक भ्रांतियों ने अपने समाज में गहरी जड़ जमा रखी हैं। पुराने लोग स्वर्ग-मुक्ति, सिद्धि, देवदर्शन आदि के फेर में पड़े रहते हैं, नई पीढ़ी के लोग वासना, तृष्णा और अहंता के लिए समूची तत्परता नियोजित किए रहते हैं। दोनों पीढ़ियों का ही आत्मचिंतन व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थपरता पर केंद्रित है। आत्म-शोधन का पुण्य और लोकमंगल का परमार्थ रास नहीं आता, उसे तो आत्म विज्ञापन के निमित्त ढिंढोरा पीटने जैसे प्रयोजनों में काम लिया जाता है, उसके आधार पर लोक सम्मान अर्जित करने और उसका प्रकारान्तर से लाभ उठाने की ललक उनकी रहती है। यह अहंता का परिशोधन जितना बढ़ा-चढ़ा होगा उसी अनुपात में

समाज की आवश्यकताओं में कटौती होगी और चित्र-विचित्र अनाचारों के उभरने की संभावना बढ़ती रहेगी। खाद्य पदार्थों में मिलावट से लेकर रिश्वतखोरी तक के अनेकानेक अवांछनीय प्रचलन इसी कारण बढ़ रहे हैं, बिलगाव की प्रवृत्ति इसी कारण बढ़ती है। सहकारिता का, उदार आत्मीयता का वातावरण इसी कारण नहीं बन पड़ता, सत्प्रवृत्ति संवर्धन और दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन में जन सहयोग इसलिए नहीं मिल पाता है कि जन-जन की व्यक्तिवादी संकीर्ण स्वार्थ-परता हथकड़ी-बेड़ी बनकर मनुष्य को जकड़े रहती है, और उसके लिए देश, धर्म, समाज, संस्कृति के लिए कुछ करने की उमंग ही प्रायः मृत हो जाती है। संक्षेप में यही है समाजगत मान्यताओं और प्रथा-प्रचलनों का सर्वविदित स्वरूप। दूर-दूर तक फैली विषवृक्ष की इन्हीं जड़ों पर लंबे समय तक कुठाराघात करने की आवश्यकता है, साथ ही नंदन वन, चंदन वन जैसे सत्प्रवृत्तियों के अभिनव उद्यानों का आरोपण, अभिवर्धन भी उतना ही आवश्यक है।

इन सबके लिए समुद्र पर सेतु बाँधने जैसे प्रयत्न उदारचेता दूरदर्शियों को मिल-जुलकर करने होंगे। किन्हीं कार्यक्रमों को आरंभ करने से पूर्व ऐसा वातावरण बनाना होगा जिससे नवसृजन के लिए जो कुछ किया जाना है उसे जन समर्थन और सहयोग अभीष्ट मात्रा में मिल सके। जो करने की योजना बनाई है उसका सही व्यक्तियों द्वारा सही तरीके से सदुपयोग कर सकना संभव हो सके।

अभीष्ट वातावरण बनाने के लिए ऐसे प्रचारात्मक योजनाओं को छोटे या बड़े रूप में कार्यान्वित करना होगा जो लोक चिंतन को, व्यक्तिवादी को व्यक्तिवादी स्वार्थपरता से उबारकर लोक कल्याण के समुदायवाद की दिशा में उलट सके। प्रवाह को चीरते हुए इच्छित दिशा में साहसपूर्वक दौड़ पड़ने वाली मछली की तरह अपना मार्ग, अपने पौरुष के आधार पर स्वयं विनिर्मित कर सके। भले-बुरे प्रचार में साहित्य का, कला का, वाणी का, संपर्क-परामर्श का, प्रेरक प्रदर्शनी का संरजाम जुटाना पड़ता है। यही सब मनीषियों

के संगठनों को भी प्रचण्ड पुरुषार्थ के साथ इस प्रकार करना होगा कि वह भाषाओं, संप्रदाओं, देशों की परिधि से सीमाबद्ध बने हुए जन-समुदाय को, युगधर्म पहचानने के लिए समस्त प्रतिबंधों को तोड़ते हुए सहमत किया जा सके।

इस प्रयोजन के लिए एक छोटा प्रयत्न शांतिकुंज द्वारा किया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि समर्थ व्यक्ति इन्हीं प्रयासों को अपने ढंग से बड़े रूप में कार्यान्वित करने के लिए कटिबद्ध हों। स्मरण रहे, इतना बड़ा कार्य कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता, उसके लिए प्राणवान् प्रतिभाओं के उच्चस्तरीय प्रयासों, संगठनों और योजना को हाथ में लिए जाने की आवश्यकता है। इमारत को गिराने में थोड़े से ही प्रयत्नों से काम चल जाता है, पर यदि उसे नए सिरे से विनिर्मित करना हो तो अत्यधिक साधनों की, कुशल श्रमिकों और इंजीनियरों की आवश्यकता होती है। परिस्थितियों को जिन लोगों ने दुर्दशाग्रस्त बनाया है, प्रयत्न तो उनको भी करने पड़े हैं, जिन्हें सदाशयता सृजन संवर्धन अभीष्ट है उन्हें मिल-जुलकर ऐसे प्रबल प्रयत्न करने पड़ेंगे जो वातावरण के उलटे प्रवाह को उलट कर सीधा कर सकें।

परिवार परिकर की स्वस्थता

शारीरिक, मानसिक और सामाजिक तीनों स्वास्थ्यों के संरक्षण एवं संवर्धन का प्रयोग अनुभव-अभ्यास परिवार रूपी प्रयोगशाला में करना और इसी पाठशाला में पढ़ना-पढ़ाना होता है। यह निजी जीवन के साथ जुड़ी हुई परिवार संस्था ही है, जिसे वैयक्तिक विज्ञान और सामाजिक सुगठन का मध्य केंद्र कहा जा सकता है। आत्म सुधार के लिए चिंतन भर प्राप्त करते रहना पर्याप्त नहीं, वरन् उसके लिए प्रयोग करने, अनुभव में उतारने एवं जीवन-चर्या का अंग बनाने की आवश्यकता होती है। उसके लिए कोई उपकरण, आधार, माध्यम चाहिए। यह परिवार ही बन सकते हैं। आत्मवत्सर्वभूतेषु और वसुधैवकुटुम्बकम् के सतयुगी सिद्धांतों को हृदयंगम कैसे किया जाए ? इसके लिए निकटवर्ती परिकर के साथ आने वाले उतार-चढ़ावों से निपटने का अभ्यास करना होता है। सामाजिक प्राणी होने का स्वभाव, मनुष्य को परिवार के साथ सहजीवन जीने की आवश्यकता अनुभव कराती है।

सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिए लोकमानस का परिष्कार आवश्यक है। इसके लिए तदनुरूप प्रशिक्षण और अभ्यास की आवश्यकता है। वैज्ञानिक प्रयोग-परीक्षणों के लिए प्रयोगशालाओं की आवश्यकता रहती है। शिक्षा संवर्धन के लिए विद्यालयों की शृंखला चलानी आवश्यक होती है। खिलाड़ियों के लिए खेल मैदान या अखाड़ा चाहिए। तैरना सीखने के लिए तालाब चाहिए। कृषि उत्पादन के लिए खेतों का होना जरूरी है। संगीत शिक्षा में वाद्य-यंत्रों का सहारा लिए बिना काम नहीं चलता।

युग समस्याओं के समग्र समाधान के लिए दो प्रयास आवश्यक हैं- एक व्यक्तिगत जीवन में आदर्शवादिता का समावेश और दूसरा सामूहिक-सामाजिक गतिविधियों का, सत्प्रवृत्तियों का प्रचलन किया

जाना। यह दोनों ही प्रयास ऐसे हैं, जिनमें हर भावनाशील विचारवान् का उत्साह और प्रयास किसी न किसी रूप में, नयोजित रहना ही चाहिए। स्वल्प सामर्थ्य वाले भले ही उसे छोटे रूप में, छोटे क्षेत्र में कार्यान्वित करें, भले ही अपने संपर्क वाले प्रभाव क्षेत्र तक इस स्तर के प्रयासों को चरितार्थ करें, पर चेष्टा होनी तो निश्चित रूप से चाहिए। उसे आपत्तिकालीन आवश्यकता और युगधर्म के निर्वाह की तरह प्रमुखता और प्राथमिकता मिलनी चाहिए। अधिक सामर्थ्यवान इन्हीं प्रयासों को बड़े रूप में, बड़े साधनों के साथ, बड़े क्षेत्र में कार्यान्वित कर सकते हैं।

जिन्हें पूरी तरह निकृष्टता के सड़े दल-दल ने अपने में धँसा-फँसा नहीं लिया है, उन्हें नव-सृजन के लिए कुछ न कुछ करना अवश्य पड़ेगा, भले ही वह छोटी गिलहरी के बालों में बालू भर कर समुद्र पाटने के प्रयास में राम-दल की सहायता करने जैसा स्वल्प ही क्यों न हो। केवट की भावना भगवान तक को गंगा पार उतारने का श्रेय संपादित कर चुकी है। शबरी ने भूखे भगवान का पेट भरने के लिए कुछ दिया ही था, भले ही वह सूखे बेर जैसा नगण्य ही क्यों न हो? सुदामा ने तन्दुलों को बगल से निकालकर भगवान के समीप तक पहुँचाने का साहस किया तो उनका परिपाक सुदामापुरी को द्वारिकापुरी जैसा सुसंपन्न बनाने में फलित हुआ। जागरूकों का चिंतन इन दिनों तो विशेष रूप से इसी राजमार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।

व्यक्ति निर्माण और समाज निर्माण के दोनों ही प्रयोजनों का प्रशिक्षण, अभ्यास और अभिवर्धन परिवार क्षेत्र में सरलतापूर्वक स्वाभाविक रीति से संभव हो सकता है। यही वह धुरी है, जिसे यदि सही बनाया और रखा जा सके, तो संबद्ध दोनों ही पहिए अपनी राह पर द्रुतगति से लुढ़कते रह सकते हैं। परिवार को सुनियोजित बनाया जा सके, तो उसकी परिणति सर्वतोमुखी प्रगति के रूप में सामने आ सकती है। न केवल उस परिकर के लोगों का भला हो सकता है,

वरन् समूचे समाज-संसार को उस प्रभाव से प्रभावित होने का सुयोग हस्तगत हो सकता है।

आमतौर से परिवार वंश के आधार पर बनते और कुटुम्ब कहलाते हैं। विवाह के उपरांत एक नए परिवार के निर्माण का शुभारंभ होता है, पर इससे पूर्व भी जो लोग इस परिकर के साथ जुड़े हुए हैं, उनके साथ पूरी तरह संबंध विच्छेद नहीं हो जाता। सच तो यह है कि जन्म के समय से लेकर स्वावलम्बी बनने तक की अवधि में जिन लोगों का सहयोग रहा है, उनके साथ जुड़े रहकर लाभ उठाने की सुविधा का कृतज्ञतापूर्वक ऋण चुकाना पड़ता है, भले ही कोई वयस्क अपना विवाह न करे, भले ही नया कुटुम्ब बनाना-बढ़ाने की उतावली न करे, पर जो पहले से ही विद्यमान है, उनके साथ तो अपने दायित्वों को निबाहना आवश्यक है ही।

साधारणतया भरण-पोषण का प्रबंध करना और सदस्यों को प्रसन्न रखने के लिए उनके इच्छित उपहार जुटाने का क्रम ही गृह संचालक चलाते रहते हैं। इसी में उनके समूचे प्रयास खप जाते हैं। किन्हीं बिरलों का ही ध्यान इस ओर जाता है कि परिवार संस्था यदि शालीनता के आधार पर सुनियोजित ढंग से चले, तो यह नर-रत्नों की खदान भी बन सकती है। इस परिवार में प्रशिक्षित हुए व्यक्ति स्वयं महामानवों जैसी भूमिका निबाहते हुए आत्म-कल्याण और लोक-मंगल का दुहरा प्रयोजन पूरा करते रहने में समर्थ-सफल हो सकते हैं। इसके विपरीत अनगढ़ परिवारों के कषैले-विषैले वातावरण में जिन्हें भी पलने--सीखने का अवसर मिला है, वे सदा मात्र अनर्थ ही करते रहेंगे। दुर्गुणों, दुर्भावों, दुर्व्यसनों और कुकृत्यों में लगे हुए लोग जीवन भर नरक भोगते और दूसरों को शोक-संताप के, पतन-पराभव के गर्त में धकेलते रहते हैं। ऐसे लोग असभ्य, अनगढ़ और धरती के भार कहलाते हैं। इस स्थिति तक पहुँचाने वाले कारणों को यदि तलाश किया जाए, तो उसमें प्रमुखता यही सामने आती है कि परिवार में उन्हें वह वातावरण नहीं मिला, जो मिलता तो वे सभ्य

स्वस्थ्य गँवा बैठने में कोई समझदारी नहीं

स्वस्थ रहने पर ही कोई अपना और दूसरों का भला कर सकता है, जिसे दुर्बलता और रुग्णता घेरे हुए होगी वह निर्वाह के योग्य भी उत्पादन न कर सकेगा, दूसरों पर आश्रित रहेगा । परावलंबन एक प्रकार से अपमान जनक स्थिति है । भारभूत होकर जीने वाले न कहीं सम्मान पाते हैं और न किसी की सहायता कर सकने में समर्थ होते हैं । जिससे अपना बोझ ही सही प्रकार से उठ नहीं पाता वह दूसरों के लिए किस प्रकार, कितना उपयोगी हो सकता है ?

मनुष्य जन्म अगणित विशेषताओं और विभूतियों से भरा पूरा है । किसी को भी यह छूट है कि उतना ऊँचा उठे जितना कि अब तक कोई महामानव उत्कर्ष कर सका है, पर यह संभव तभी है कि शरीर और मन पूर्णतया स्वस्थ हों । जो जितनों के लिए जितना उपयोगी और सहायक सिद्ध होता है उसे उसी अनुपात में सम्मान और सहयोग मिलता है, अपने और दूसरों के अभ्युदय में योगदान करना उसी से बन पड़ता है और स्वस्थ-समर्थ रहने की स्थिति बनाए रहता है ।

अपंग-अविकसित तो असहाय, दीन-दरिद्र दीखते ही हैं, पर इस पंक्ति में वे लोग भी सम्मिलित होते हैं जो दुर्बलता या रुग्णता से ग्रसित हैं । इसलिए अनेक दुःखद, दुर्भाग्यों और अभिशापों में प्रथम अस्वस्थता को ही माना गया है । प्रयत्न यह होना चाहिए कि वैसी स्थिति न उत्पन्न होने पाए । यदि किसी कारण इस चपेट में आना भी पड़े तो वह दुर्दिन अधिक समय ठहरने न पाए । सच्चे अर्थों में जीवन उतने ही समय का माना जाता है जितना कि स्वस्थ रहकर जिया जा सका ।

कुछ अपवादों को छोड़कर अस्वस्थता अपना निज का उपार्जन

सुसंस्कृत, शालीन और समुन्नत बनकर अपना और अपने संपर्क समुदाय का उत्थान-कल्याण कर सकने में समर्थ हुए होते।

परिवार एक संयोगवश मिला हुआ परिकर है, जिसमें मानवी गरिमा के अनुरूप शालीनता का अभ्यास किया और कराया जा सकता है। इसके लिए उस परिकर के प्रतिभाशाली सदस्यों को अपना विशेष दायित्व समझना चाहिये और अपने को इस योग्य बनाना चाहिए कि वह अपनी छोटी प्रयोगशाला में सदाशयता का उद्यान लगा और विकसित कर सके। जो करना है उसके संबंध में सोचना और सर्वप्रथम अपने चरित्र और व्यवहार को ऐसा विनिर्मित करना चाहिए, जो साँचे का काम दे सके और निकट आने वालों को ऊँचे स्तर का ढालते रहने में समर्थ हो सके। धुरी को तो सही होना ही चाहिए, तभी उसके इर्दगिर्द चक्कर लगाने वाले घटक अपना कार्य सही रीति से कर सकने में सफल होते हैं। इससे कम में बात बनती नहीं। परिवार संस्था वंश के आधार पर ही विनिर्मित हो, यह तनिक भी आवश्यक नहीं। कई कुटुम्ब ऐसे कुसंस्कारी बन चुके होते हैं कि उन्हें आदर्शों की गंध तक नहीं सुहाती। बुराइयाँ छोड़ने व अच्छाइयाँ अपनाने की बात पर सहमत होना उन्हें अति कठिन लगता है। पूर्वाग्रह ग्रसित हठवादिता के कारण समझाने-बुझाने से अपने को तनिक भी बदलने के लिए तैयार नहीं होता। ऐसी दशा में बालू से तेल निकालने की बात बनती न देखकर निराशा ही हाथ लगती है। इन परिस्थितियों में सत्प्रवृत्ति की प्रयोगशाला विचारपरिवार का गठन करके या वैसा जहाँ उपस्थित हो, वहाँ जा पहुँचने की बात सोचनी पड़ती है। कुटुम्ब परिकर हो या विचारपरिवार, वस्तुतः उसी क्षेत्र में सीखने-सिखाने का सिलसिला चलाना पड़ता है। परिकर शब्द की चर्चा यहाँ विवाह करने या बच्चों तक अपना दायरा सीमित कर लेना नहीं और यह भी नहीं सोचा जाना चाहिए कि इन थोड़ी-सी इकाइयों तक अपना कर्तव्य सीमित हो जाता है। सच तो यह है कि इस संक्रांति वेला में किन्हीं विचारशीलों को विवाह-

बंधन में बँधने का दुस्साहस तभी करना चाहिए जब उन्हें लक्ष्य की दिशा में कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलने वाला सहयोगी मिल जाए अन्यथा एक पैर आगे-बढ़ते, दूसरा पीछे खिंचने जैसी ऐसी मुसीबत सामने खड़ी होती है, जिसमें यदाकदा वासना तृप्ति के अतिरिक्त अन्य हजार प्रकार के संकट सामने आ खड़े होते हैं, और दिन-दिन समस्याओं एवं संकटों का घटाटोप अधिकाधिक भारी विपन्न बनाता चलता है।

परिवार हर किसी साथ अनायास ही जुड़ जाता है। चाहे वह अभिभावकों, संबंधी, कुटुम्बीजनों का समुदाय हो या विवाह के बाद निजी उत्पादन से गढ़ा गया समुदाय। इसके अतिरिक्त वे लोग भी परिजन ही कहलाते हैं, जिनके साथ रहना या काम करना पड़ता है। इनमें से किसी न किसी प्रकार का परिकर हर किसी के साथ किसी न किसी रूप से जुड़ा होता है। इनमें कोई भी अपने साथ क्यों न बँधा हो, उसके हर घटक को अधिक सुयोग्य, सुसंस्कृत, सद्‌गुणी एवं स्वावलंबी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सरल भी है। शरीर तो सभी का आज्ञानुवर्ती होता है। उनके साथ जुड़े हुए परिजन ही ऐसे होते हैं, जिन पर अधिक प्रभाव-दबाव रहता है। स्नेह, सद्‌भाव, आदान-प्रदान, सहयोगजन्य सुविधा, भविष्य की आशा सँजोए रहने, दबावों के कारण इस परिवार को परामर्शों, आग्रहों या दबावों के आधार पर उन्हें सुधारना, उभारना और उछालना अपेक्षाकृत अधिक अच्छी सरलतापूर्वक बन पड़ता है। इस संभावना का पूरा-पूरा प्रयोग करना चाहिए। अनाचार थोपने के लिए तो अस्वाभाविक प्रयत्न करने पड़ते हैं, पर सदाशयता के सिद्धांतों में अपना निज का प्रभाव होता है। उसके साथ महामानवों द्वारा प्रस्तुत किए गए अनेक तथ्य एवं प्रमाण इतिहास के पृष्ठों पर अंकित रहते हैं। उन साक्षियों के सहारे कम से कम अपने प्रभाव क्षेत्र के लोगों को तो सँभालना-सुधारना संभव हो ही सकता है। पूरी न सही, आंशिक सफलता तो मिल ही सकती है।

मेंहदी पीसने वाले के हाथ लाल रंग से रंग जाते हैं। इत्र बेचने वाले के कपड़े अनायास ही महकने लगते हैं । सत्प्रवृत्ति संवर्धन का कार्य अपने छोटे परिवार से ही आरंभ क्यों न किया गया हो, उसका सर्वाधिक प्रभाव संयोजक पर ही पड़ता है, कारण कि उसे हर समय ध्यान रखना पड़ता है, कि जो कुछ दूसरों को बताना या समझाना है, उसका अनुकरणीय उदाहरण अपने को ही प्रस्तुत करना पड़ेगा अन्यथा कथनी और करनी में अंतर रहने पर प्रभाव तो कुछ पड़ेगा नहीं, उपहास ही उड़ेगा।

परिवार एक छोटा राष्ट्र है, उसकी सुव्यवस्था बनाने में भी उतने ही कौशल या अनुशासन की आवश्यकता पड़ती है, जितनी कि किसी शासनाध्यक्ष को अपने अधिकार क्षेत्र में सुव्यवस्था बनाते रहने में। अनुशासनहीनता से अराजकता फैलती है। असभ्य, आलसी और अनगढ़ प्रजाजन राष्ट्र को दिनों-दिन अवनति की ओर घसीटते हैं। इसी प्रकार परिवार में कोई नीति-निर्धारण न हो, तो हर क्षेत्र में अशांति और अवनति का ही माहौल बनेगा।

परिवार के सदस्यों में से प्रत्येक को अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य पालन पर अधिक जोर देने के लिए अभ्यास कराया जाना चाहिए। अनुशासन बना रहे, इसके लिए एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखनी आवश्यक है। हर किसी की उचित-अनुचित माँग मान लेने की कीमत पर प्रसन्न करने का प्रयत्न करना क्षणिक लाभ के लिए भविष्य को अंधकारमय बनाना है। औचित्य को ही प्रधानता मिले, पक्षपात बरतने के लिए न तो मन बनाया जाए और न दूसरों को इस प्रकार का आग्रह करके बात मनवा लेने की छूट दी जाए। संतुलन दृढ़तापूर्वक किए बिना कुछ बनता ही नहीं। कुछ को अनावश्यक सुविधाएँ देने और कुछ को उनके उचित अधिकारों से वंचित करने की नीति अपनाकर कोई गृह-संचालक उस परिकर में अपनी प्रतिष्ठा और प्रभावशीलता बनाए नहीं रह सकता। स्त्री-पुत्रों के प्रति ही नहीं, समस्त परिवार के प्रति एक जैसे व्यवहार की नीति

बरती जानी चाहिए।

उत्तराधिकार में इतनी संपदा छोड़ मरने की बात नहीं सोचनी चाहिए, जिससे पीछे वालों को उसी के ब्याज-भाड़े में गुजारा करते रहने की आकांक्षा जागे। इससे उत्तराधिकारियों की निजी पुरुषार्थ के सहारे स्वावलंबन अपनाने की साहसिकता समाप्त हो जाती है, प्रतिभा संवर्धन से वे वंचित रह जाते हैं। परावलंबी अनेक दुर्व्यसनों के शिकार बनते हैं। धनी परिवारों की सुविधा संपन्न परिस्थितियों में पले हुए लोग सुविधा के आधार खिसकते ही दीन-हीन जैसी स्थिति में आ पहुँचते हैं। विपत्ति में हुए घाटे की खाई पाटने के लिए उनमें निजी कौशल और पौरुष तो होता नहीं, ऐसी दशा में धक्का लगने पर वे इस प्रकार औंधे मुँह गिरते हैं कि स्वयं उठने या दूसरों के द्वारा उठाए जाने जैसे किसी सुयोग के बनने की संभावना नहीं रहती। इसलिए अभिभावकों का भरण-पोषण के अतिरिक्त यह भी कर्तव्य बन जाता है कि वे अपने प्रभाव क्षेत्र के सदस्य को आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनने की, पूर्वजों की कमाई पर आँख न जमाने की बात स्पष्ट करते रहें। पसीने की कमाई का ही सदुपयोग बन पड़ता है। हराम की कमाई तो एक प्रकार से चोरी, बेईमानी के स्तर की समझी जानी चाहिए, भले ही वह पूर्वजों के द्वारा छोड़ी या दहेज आदि के माध्यम से ही मिली क्यों न हो। जुआ, सट्टा, लाटरी आदि जैसे माध्यमों से अचानक छप्पर फाड़कर ऊपर पड़ने वाली संपदा भी अनीति उपार्जन की तरह सत्प्रयोजनों में लग नहीं सकती। उसके बदले अनर्थ ही खरीदे जा सकते हैं।

अभिभावकों, संरक्षकों के लिए उचित है कि अपने आश्रितों में से प्रत्येक को सुसंस्कारिता और स्वावलंबी जीवन जीने की कला सिखाएँ। मर्यादाओं के परिपालन और वर्जनाओं से बचे रहने के लिए सहमत करें। किसी को भी असभ्यता, उद्दण्डता, अनैतिकता अपनाने की छूट न दें। आलस्य, प्रमाद के चंगुल में फँसने से इस परिकर को उसी प्रकार रोका जाना चाहिए जैसे कि साँप-बिच्छू से,

अग्नि और जहर से दूर रहने की सतर्कता विश्वास करने के स्तर तक हृदयंगम कराई जाती है।

परिवार में न तो कोई आत्महीनता की ग्रंथि का शिकार होकर संकोची बन बैठे। ग्रन्थि के खुल न सकने पर घुटन ही अनुभव होती है और परिणाम प्रतिभा पलायन जैसा अतीव कष्टकारक होता है। साथ ही किसी को इस स्थिति तक भी न पहुँचने दिया जाए कि अशिष्ट, उद्दण्डता बरतने पर उतारू होने जैसी अवांछनीय स्थिति तक जा पहुँचे। इसलिए जहाँ संतुलित समदृष्टि अपनाए जाने की आवश्यकता है, वहाँ अतिरिक्त शालीनता, प्रशंसा और उजड्डता की यथा अवसर भर्त्सना भी होनी चाहिए। अनुभव होने की आवेश-ग्रस्तता को मनमानी करने की छूट न मिलना ही उचित-उपयुक्त है।

सहकारी और सद्गुणी बनने का स्वभाव अभ्यास की विधि-व्यवस्था और दिनचर्या के साथ जुड़ा रहना चाहिए। घर के सभी कामों को सभी समर्थ लोग मिल-जुलकर करें। बालकों, वृद्धों को भी उनके स्तर का काम देकर उन्हें गृह- व्यवस्था में सहयोगी बने रहने के लिए सहमत करें। घर का सारा भार नव-वधुओं पर छोड़ देना और हर किसी को उन्हीं से अपनी-अपनी माँग पूरी कराने की मान्यता नहीं बनने देनी चाहिए। घर के काम मिल-जुलकर करने से ही सुव्यवस्था का अभ्यास सभी को होता है। इससे न तो किसी को खाली रहना पड़ता है और न किसी को असाधारण रूप से पिसने का दबाव वहन करना पड़ता है। इस आधार पर महिलाओं को भी इतना अवकाश मिल जाता है कि वे अपने निजी विकास के लिए भी कुछ कर सकें। इस न्याय से घर की महिलाओं को भी वंचित नहीं किया जाना चाहिए। इसके लिए वर्तमान प्रचलनों और मान्यताओं के असाधारण रूप से बदले जाने की आवश्यकता है।

पारिवारिक पंचशीलों का अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सभी समझदारों को परिपालन करना चाहिए। श्रमशीलता, शिष्टता, मितव्ययिता, सुव्यवस्था, सहकारिता-यह पाँच ऐसे सद्गुण हैं, जिन्हें

अपनाने पर ही कोई सच्चे अर्थों में प्रगतिशील मनुष्य कहलाने की स्थिति तक पहुँच सकता है। आलसी, प्रमादी, अपव्ययी, अहंकारी प्रदर्शन प्रिय, फिजूल खर्च, अशिष्ट, असभ्य, व्यवस्था बुद्धि से रहित, समय को बर्बाद करते रहने वाले, व्यक्तिवादी, संकीर्णता से ग्रस्त, स्वार्थ परायण, लोभी अपनी उजड्डता को बड़प्पन का चिन्ह भले ही मान लें, पर वे वस्तुत: सभी की आँखों से गिर जाते हैं, ओछे, बचकाने, अनगढ़ और हेय स्तर के जाने जाते हैं, प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है और उस सहयोग के द्वार बंद हो जाते हैं जो किसी के उठने-उठाने का मूलभूत आधार होता है। उजड्ड दूसरों पर यह छाप छोड़ना चाहते हैं कि हमारी स्वेच्छाचारिता औरों की तुलना में अधिक समर्थतायुक्त है, पर परिणाम होता ठीक इसके विपरीत है। अनगढ़ लोग सभी की आँखों से गिर जाते हैं और भविष्य को अपने हाथों अंधकारमय बनाते हैं।

ऐसे कुप्रचलन परिवार में जहाँ भी उभरते दिखाई दें, वहाँ उन्हें तत्काल दबाया, दबोचा जाना चाहिए। सुधार आरंभिक स्थिति में सफल पड़ता है, पर जब कुटेव परिपक्व हो जाती है, तो उसे बदलने-सुधारने में बड़ी कठिनाई आती है। परिवार संस्था की सफलता इसी बात में है कि उस परिवार में कितनी सहकारिता, सद्भावना, और शालीनता का समावेश हो सका। ऐसे परिवार संपन्नता की दृष्टि से सामान्य होते हुए भी अनुकरणीय, अभिनंदनीय, प्रतिष्ठित एवं गौरवास्पद बनने का अवसर प्राप्त करते हैं।

है, भले ही वह अनजाने में, भ्रमवश या दूसरों की देखा देखी न्योत बुलाया गया है । सृष्टि के सभी प्राणी जीवन भर निरोग रहते हैं । मरण काल आने पर जाना तो सभी को पड़ता है, यह नियति की व्यवस्था है । इसमें किसी का चारा नहीं है, पर निरोग रहना हर जीवधारी का जन्मसिद्ध अधिकार है । जिन प्राणियों को किसी के बंधनों में बँधे रहने की विवशता नहीं होती, वे सभी जन्म से लेकर मरण पर्यन्त निरोग रहते हैं । स्वच्छंद जीवन जीने वाले पशु–पक्षियों में कभी किसी को बीमार नहीं पाया जाता, कोई दुर्घटना ग्रसित हो जाए तो बात दूसरी है ।

मनुष्य की उच्छृंखल आदतें ही उसे बीमार बनाती हैं । जीभ का चटोरापन अतिशय मात्रा में अखाद्य खाने के लिए बाधित करता रहता है । जो जितना भार उठा नहीं सकता, उतना लादने पर किसी का भी कचूमर निकल सकता है । पेट पर अपच भी इसी कारण चढ़ दौड़ता है, बिना पचा सड़ता है और सड़न को रक्त प्रवाह में मिलजाने से जहाँ भी अवसर मिलता है, रोग का लक्षण उभर पड़ता है । कामुकता की कुटैव जीवनी शक्ति को बुरी तरह क्षरण करती है और मस्तिष्क की तीक्ष्णता का हरण कर लेती है । अस्वच्छता, पूरी नींद न लेना, कड़े परिश्रम से जी चुराना, नशेबाजी जैसी कुटेवें भी स्वास्थ्य को जर्जर बनाने का निमित्त कारण बनती हैं । खुली हवा और रोशनी से बचना, घुटन भरे वातावरण में रहना भी रुग्णता का एक बड़ा कारण है । भय या आक्रोश जैसे उतार–चढ़ाव भरे ज्वार–भाटे भी मनो विकार बनते हैं और व्यक्ति को सनकी, कमजोर एवं बीमार बनाकर रहते हैं । हँसती–हँसाती जिंदगी जीने वाले प्रायः स्वस्थ ही रहते हैं और लंबी जिंदगी जीते हैं ।

अपने ऊपर औचित्य का अंकुश लगाए रहा जाए तो दुर्बल पड़ने या बीमार रहने का अवसर ही न आए । उच्छृंखलता सर्वत्र अराजकता स्तर की अव्यवस्था को जन्म देती है, इस कुमार्ग पर चलने वाले ही रोग ग्रस्त बनते या रहते देखे गए हैं । इस अनाचार

का परित्याग कर देने पर कोई भी अपने खोए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त कर सकता है । प्रकृति उद्दण्डता का दण्ड भी हाथोंहाथ देने में निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह व्यवहार करती है किंतु साथ ही इतनी दयालु भी है कि गलती मान लेने, आदत सुधार लेने और रास्ता बदल लेने पर क्षमा भी कर देती है । कितने ही स्वास्थ्य गँवा बैठने वाले लोग अपनी आदतें सुधार लेने के उपरांत पुनः स्वस्थ और समर्थ बनते देखे गए हैं, यह रास्ता सभी के लिए खुला है ।

दण्ड के प्रतिफल की उपेक्षा करते रहने वाले ही बहुधा कुमार्ग पर चलने और कुकर्म करने पर उतारू होते हैं । यदि यह समय रहते समझा जा सके कि अस्वस्थता अपने लिए, अपने साथियों के लिए कितनी कष्टकर होती है तो संभव है लोग आग में हाथ डालकर उस महत्वपूर्ण अंग को गँवा बैठने जैसी भूल न करें । दुर्बल शरीर इतना परिश्रम-पुरुषार्थ भी नहीं कर सकता कि निर्वाह की आवश्यकताओं को अपने बलबूते पूरा कर सके, बीमारी का कष्ट चाबुक से पिटने या हथौड़े से कुटने के समान कष्ट कर होता है । परिचर्या में जिन आदमियों को लगना पड़ता है उनका समय नष्ट होता है, इलाज का खर्च भी कम मँहगा नहीं पड़ता । घर में पूर्व संचय न होने पर कर्ज लेने से लेकर कपड़े बेचने तक की नौबत आ जाती है । कितनों को ही खर्चीला उपचार न जुटा पाने पर अकाल मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है । सहानुभूति का शिष्टाचार तो स्वजन संबंधी निभाते ही हैं, पर मन से उन्हें भी रोगी भारभूत लगता है और उनसे अच्छा न हो सके तो बुरा हो जाने की कामना मन ही मन करने लगते हैं । स्वयं को भी ऐसे जीवन में कोई रस नहीं रह जाता, ज्यों-त्यों करके ही मौत के दिन पूरे करने पड़ते हैं । प्रगति की बात तो सोचते भी नहीं बनती, जब जीवित लाश की तरह जिंदगी ढोई जा रही हो, तो फिर अभ्युदय की योजना किस बलबूते बने ? उज्ज्वल भविष्य के सपने किस आधार पर देखे जाएँ ? यह सब दुःखद संभावनाएँ मात्र एक ही कारण से अवरोध बनकर खड़ी होती हैं, कि शरीर के साथ मन

भी अस्वस्थ रहने लगता है । दोनों एक साथ जुड़े जो हैं । मन को ग्यारहवीं इंद्रिय कहा गया है । जिस प्रकार बीमार व्यक्ति की सभी इंद्रियाँ असमर्थता अनुभव करती हैं । उसी प्रकार शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति में मन भी अस्वस्थ, अस्त व्यस्त एवं विकृत होने लगता हैं । बीमारों में प्रायः चिड़चिड़ापन देखा जाता है, वे आक्रमण करने की स्थिति में तो होते नहीं, अपना क्रोध, आवेश, खिन्न-उद्विग्न रहकर ही व्यक्त करते हैं । शरीर और मन के सहयोग से ही हमारे समस्त क्रिया-कलाप सही रूप से चल सकने की स्थिति में रहते हैं । शरीर गड़बड़ाता है तो मन को भी अपनी चपेट में ले लेता है और चिंतन भी गड़बड़ाने लगता है, फलतः रोगी व्यक्ति किसी प्रकार शांत रहने और रहने देने की स्थिति में भी नहीं रहता । दूसरों के सत्परामर्श न उसे सुहाते हैं और न अपना मानसिक स्तर इस योग्य रहता है, कि किसी को कोई उपयुक्त एवं व्यावहारिक परामर्श दे सकें, यह दुहरी हानि है । शरीरगत अशक्तता, रुग्णता, बेचैनी तो स्वयं ही सहन करनी पड़ती है, पर मानसिक अस्त-व्यस्तता का नया दौर चल पड़ने पर एक नया उपद्रव सामने आता है और स्थिति अर्धविक्षिप्त जैसी बन जाती है । मनुष्य शारीरिक और मानसिक रूप से रोगी रहने लगता है, इसके कारण उन्हें दुहरा दबाव सहना पड़ता है । सही चिंतन के अभाव में इर्द-गिर्द के व्यक्ति और वातावरण पर ही सारे दोष थोपने का प्रवाह चलता है । अपनी गलतियाँ समझने और सुधारने का तो मानस ही नहीं रहता है, फलतः अपने को खिन्नता का और दूसरों को निराशा का सामना करना पड़ता है, रुग्णता के कष्ट में इस अतिरिक्त भार से त्रास और भी अधिक बढ़ता है, साथियों की हैरानी बढ़ जाती है सो अलग ।

पीड़ित स्थिति में कुछ महत्वपूर्ण कार्य एवं उपार्जन तो बन नहीं पड़ता, साथ ही चिकित्सा-पथ्य आदि का अतिरिक्त व्यय भार और बढ़ जाने पर सामान्य स्तर के लोगों के सामने आर्थिक कठिनाई भी दिन-दिन बढ़ती जाती है । जमा पूँजी चुक जाने पर चिकित्सा के

अतिरिक्त पारिवारिक निर्वाह में भी अड़चन खड़ी हो जाती है, इससे न केवल रोगी वरन् उसका परिवार परिकर भी एक नई विपत्ति में फँस जाता है । सहानुभूति दिखाने वाले, पूछताछ करने वाले आते हैं तो उनका अतिथि सत्कार भी करना पड़ता है । इस मँहगाई के दिनों में वह भी कम वजन नहीं डालता । बीमारी से छुटकारा पाने के बाद भी इतनी शक्ति बहुत दिनों में आ पाती है कि परिश्रमपूर्वक उपार्जन करके पहले की तरह फिर अपना साधारण क्रम चलाया जा सके और बीमारी के दिनों में हुई आर्थिक क्षति एवं अस्त व्यस्तता के कारण उत्पन्न हुई गड़बड़ियों की क्षतिपूर्ति की जा सके ।

सामाजिक या राष्ट्रीय दृष्टि से हर रोगी, समुदाय को क्षति पहुँचाने वाला अपराधी है, भले ही उसे दण्ड देने का कोई प्रावधान न हो । भले ही निर्दोष, दया, सहानुभूति या सेवा का पात्र समझा जाता हो । कारण कि रुग्णता प्रकारान्तर से समूचे समाज पर अनावश्यक भार डालती है । चिकित्सकों का प्रशिक्षण, अस्पताल का भारी भरकम ढाँचा, औषधियों की शोध, उनका निर्माण-वितरण यह सब मिलाकर इतना बोझिल होता है कि उसमें ढेरों धनशक्ति और जन शक्ति खपती है । यदि इसे सरकार जुटाती है तो भी उसे उसका संतुलन जनता पर टैक्स लगाकर ही पूरा करना पड़ता है । यह राशि यदि बच सकी होती तो शिक्षा संवर्धन, उद्योगों के संवर्धन जैसे उपयोगी कामों में लगती और सार्वजनिक प्रगति में सहायक होती । उन सब में कटौती करके ही रोगियों के लिए उपचार के साधन जुटाए जाते हैं । यदि कोई व्यक्ति निजी साधनों से चिकित्सा करता है तो भी चिकित्सकों के प्रशिक्षण और औषधि निर्माण का जो ढाँचा खड़ा किया गया है उसमें प्रकारान्तर से जन साधनों का नियोजन हुआ तो देखा ही जा सकता है । यह प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप से राष्ट्रीय हित में हुई कटौती ही समझी जा सकती है । काम में, उत्पादन में कमी पड़ना जहाँ व्यक्ति की निजी हानि है वहाँ उसके कारण राष्ट्र की समृद्धि एवं प्रगति को हानि पहुँचती है । रोगी की छूत दूसरों को भी लगती है,

उसके श्वास में, मल-मूत्र में जो अतिरिक्त गंदगी, विषाक्तता रहती है वह घूम-फिर कर अन्य अनेक लोगों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती है । इस प्रकार उस चपेट में सूखे के साथ गीला भी जलता है । जो लोग अपने स्वास्थ्य को साज-सँभालकर रखे हुए थे, वे इस रोग प्रदूषण से कहीं न कहीं प्रभावित हो सकते हैं । इसे जन साधारण की क्षति ही मानना पड़ेगा, भले ही वह साधारण जैसी दीख पड़ती क्यों न हो । समर्थ-स्वस्थ व्यक्तियों के आधार पर समस्त राष्ट्र समर्थ बनता है और प्रगति करता है, वहीं रोगियों की संख्या बढ़ने से अवनति का, अवगति का प्रवाह चल पड़ता है । जो शक्ति दीवार उठाने में लगानी चाहिए थी वह खाई पाटने में खप जाती है । इस घाटे से देश का हर नागरिक न्यूनाधिक मात्रा में प्रभावित ही होता है, इसलिए वैयक्तिक रुग्णता भी सामाजिक क्षति के रूप में फलित होती है । सामुदायिक प्रगति में जो जितनी बाधाएँ डालता है, जो जितनी उपेक्षा-असमर्थता प्रकट करता है, उसके असहयोग से समस्त समाज को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हानि ही हानि उठानी पड़ती है । ऐसी दशा में यदि उसे अपराधी स्तर का माना जाए तो इसमें कुछ भी अनुचित न होगा । राजदण्ड भले ही न मिले तो भी प्रकृति उसे उस भूल का दण्ड देने में कोई कोर कसर नहीं रखती । रुग्णता आखिर कोई दैवी विपत्ति या आकस्मिक दुर्घटना तो है नहीं, उन्हें मनुष्य ही प्रकृति मर्यादाओं का उल्लंघन करके स्वयं ही न्योत बुलाता है । ऐसी दशा में कोई रोगी अपने को निर्दोष नहीं कह सकता, भले ही उसे अपनी भूल के बदले में साथी सहयोगियों की सेवा-सहानुभूति मिलती रहे, पर इतने भर से उसकी निर्दोषता सिद्ध नहीं हो जाती है ।

रुग्णता की बहुमुखी हानियों पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जा सके तो सहज ही समझा जा सकता है कि इस विपत्ति से बचना-बचाना ही उपयुक्त प्रतीत होगा । इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए जिस आहार-विहार के संयम को अपनाने भर से काम चल